सम्पादकीय

श्रुतपंचमी के अवसर पर –

जागृत विवेक

बात लगभग दो हजार वर्ष पुरानी है। गिरि गिरनार की गहरी गुफा में अन्तर्मग्न आचार्य धरसेन का ध्यान रात्रि के अन्तिम प्रहर में जब भग्न हुआ तो वे श्रुतपरम्परा की सुरक्षा में चिन्तामग्न हो गये।

वे सोचने लगे – ''मैं अब बूढा होता जा रहा हूँ; होता क्या जा रहा हूँ, हो ही गया हूँ; पर अभी तक कोई ऐसा पात्र शिष्य दिखाई नहीं दिया, जो गुरु परम्परा से प्राप्त भगवान महावीर की श्रुतपरम्परा को मुझसे पूर्णत: ग्रहण कर सके। लगता है बुद्धि की हीनता के कारण अब केवल श्रुत के आधार पर सिद्धान्त की सुरक्षा सम्भव नहीं है, अब उसे लिखितरूप से भी सुरक्षित किया जाना चाहिये; पर समझ में नहीं आता कि यह सब सम्भव कैसे होगा ? क्योंकि अब मेरा जीवन ही कितना रहा है ? यदि योग्य शिष्य मिल जावे तो उन्हें सब कुछ सिखाकर लिपिबद्ध करने का आदेश देकर निश्चिन्त हो जाऊँ। **पर मेरे सोचने से क्या होता है ? होगा तो वही, जो होना है।''**

सोचते-सोचते वे कुछ निद्रित हुए तो स्वप्न में देखते हैं कि जवान, बलिष्ठ, कर्मठ, शुभ्र वृषभों का एक नम्रीभूत धुरन्धर युगल उनकी ओर चला आ रहा है; आ ही नहीं रहा, आ ही गया है और उनके पावन चरणों में नतमस्तक है।

वे एकदम जागृत हो गये। **विकल्पों की निरर्थकता को गहराई से जाननेवाले आचार्यश्री को लगा कि यह स्वप्न तो मेरे विकल्प को सार्थक सूचित करता-सा प्रतीत होता है।**

ध्यानमग्न आचार्य धरसेन ने जब नासाग्र पलकों को ऊपर उठाया तो दो उत्साही युवा मुनिराजों को चरणों में नतमस्तक पाया। समागत मुनिराज विनम्र शब्दों में कह रहे थे –

''प्रथम श्रुतस्कन्ध के विशेषज्ञ आचार्य श्री धरसेन के पवित्र चरणकमलों में सिद्धान्तामृत के पिपासु यतियों का बारम्बार वन्दन नमन स्वीकृत हो।''

अन्तर से मृदु एवं बाहर से कठोर आचार्य धरसेन कहने लगे –

''यदि पात्रता हो तो कुछ भी अलभ्य नहीं, पुरुषार्थियों की पिपासा तृप्त होती ही है; पर सब-कुछ अन्तर की लगन पर निर्भर करता है।''

आचार्यश्री के संकेत को अवधारण करते हुए वे बोले –

''लगन की कमी और पुरुषार्थ की उपेक्षा तो अन्तेवासियों से कभी होगी नहीं; पर पात्रता का निर्णय तो आचार्यश्री को ही करना होगा।''

''हमें तुमसे यही उत्तर अपेक्षित था।''

''आचार्यश्री की कृपा के लिए अनुचर अनुगृहीत हैं।''

दोनों को दो मंत्र देते हुए आचार्यश्री बोले –

''जाओ, सामने की चोटी पर स्थित गुफा में इन मंत्रों की आराधना करो। मंत्र सिद्ध होने पर सर्वाङ्गसुन्दर देवाङ्गनाओं के दर्शन होंगे।''

दोनों मुनिराज हतप्रभ हो गये। वे सोचने लगे –

''देवाङ्गनाओं के दर्शन...हमें देवाङ्गनाओं से क्या लेना-देना ? आचार्यश्री ने हमें यह ...''

उनके अन्तर के मन्थन से परिचित आचार्यश्री बोले –

''विकल्पों में न उलझो, समय बर्बाद मत करो; जो कहा गया है, उसका पालन करो। जाओ, जाओ...।

रुको, जरा रुको; एक बात ध्यान से सुन लो। यदि कोई शंका उत्पन्न हो तो मेरे पास दौड़े मत चले आना। **'तुम्हारा आत्मा की तुम्हारा वास्तविक गुरु है'** – इस महामंत्र को याद रखना। अब जाओ, देर न करो...''

साधना के पक्के ऋषिराजों के समक्ष देवाङ्गनाओं की उपस्थिति में देर न लगी, पर वे सर्वाङ्गसुन्दर न थीं। एक के दाँत सामने का निकल रहे थे तो दूसरी एकाक्षी थी। उन्हें देख ऋषियुगल संकोच में पड़ गये। वे सोचने लगे –

''आचार्यश्री ने तो कहा था कि सर्वाङ्गसुन्दर देवाङ्गनाओं के दर्शन होंगे, पर...। कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है। क्यों न चलकर गुरुदेवश्री से ही जान लें ? नहीं, नहीं; उन्होंने आते समय कहा था कि कहीं कुछ शंका पड़े तो मेरे पास भागे-भागे मत आना। **'तुम्हारा आत्मा ही तुम्हारा वास्तविक गुरु है'** – इस महामंत्र को याद रखना; अत: स्वयं ही इसके कारण की खोज करना चाहिए।''

उन्होंने अपने-अपने मंत्रों का गहराई से निरीक्षण किया तो पाया कि एक मंत्र में एक अक्षर की कमी है और दूसरे में एक अक्षर अधिक है। वे एकबार फिर संकोच में पड़ गये। उनका अन्तर दुविधा में उलझ गया। वे सोचने लगे –

''क्या इन मंत्रों को अपने विवेक के आधार पर ठीक कर लिया जाये ? **वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, अनुभववृद्ध, गुरुपरम्परा से प्राप्त समृद्ध श्रुतपरम्परा के धनी आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त मंत्रों में सुधार करने का साहस यौवन से उत्पन्न दुस्साहस तो नहीं होगा ?**''

गहरे विचार-मंथन के बाद दोनों ही युवा ऋषि स्वतंत्ररूप से स्वविवेकानुसार मंत्रों को शुद्ध कर लेने के निर्णय पर पहुँचे और ध्यानमग्न हो गये।

सफलता विवेक के धनी कर्मठ बुद्धिमानों के चरण चूमती है। सर्वाङ्गसुन्दर देवाङ्गनाएँ उपस्थित हो कहने लगीं –

''हम आपकी क्या सेवा कर सकती हैं ?''

''कुछ नहीं; **सेवकों का संग्रह और सेवा हमें अभीष्ट नहीं। हमारी आराधना का अभीष्ट तो आचार्यश्री की आज्ञा का पालन मात्र था।**''

दोनों युवाऋषि आचार्यश्री के चरणों में उपस्थित हुए। नमन करते हुए युवा ऋषियों को मंगल आशीर्वाद देते हुए आचार्यश्री बोले –

''पुष्पों के समान दन्तपंक्ति के धनी पुष्पदन्त और अभूतपूर्व बल के धनी भूतबली को पाकर आचार्य धरसेन कृतकृत्य है।''

अपने नये नाम सुनकर युवा ऋषि चकराये, पर देह में समागत परिवर्तन को लक्ष्य कर सब-कुछ समझ गये। अत्यन्त विनम्र पुष्पदन्त और भूतबली आचार्यश्री से मंत्रों के शुद्ध कर लेने के अपराध के लिए क्षमायाचना के साथ जो कुछ घटा था, उसे सुनाने लगे तो गुरुगम्भीर गिरा से आचार्यश्री कहने लगे –

''यह सब सुनाने की आवश्यकता नहीं है, हमारे लिए कुछ भी अगम्य नहीं है। हमें ऐसे ही विनयशील, विवेक के धनी और प्रतिभाशाली अन्तेवासियों की आवश्यकता थी; जिन्हें पूर्वजों से प्राप्त श्रुतसम्पत्ति समर्पित की जा सके। **विनय के बिना तो विद्या प्राप्त होती ही नहीं है; पर विवेक और प्रतिभा भी अनिवार्य है, इनके बिना भी विद्यार्जन असम्भव है। गुरु के प्रति अडिग आस्था का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर वह आतंक की सीमा तक न पहुँचना चाहिए; अन्यथा वह विवेक को कुण्ठित कर देगी।**

समागत समास्याओं का समुचित समाधान तो स्व-विवेक से ही सम्भव है; क्योंकि गुरु की उपलब्धि तो सदा सर्वत्र सम्भव नहीं। परम्पराएँ भी हर समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकतीं; क्योंकि एक तो समस्याओं के अनुरूप परम्पराओं की उपलब्धि सदा सम्भव नहीं रहती; दूसरे, परिस्थितियाँ भी तो बदलती रहती हैं।

यद्यपि विवेक का स्थान सर्वोपरि है; किन्तु वह विनय और मर्यादा को भंग करने वाला नहीं होना चाहिए। विवेक के नाम पर कुछ भी कर डालना तो महापाप है; क्योंकि निरंकुश विवेक पूर्वजों से प्राप्त श्रुतपरम्परा के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

क्षेत्र और काल के प्रभाव से समागत विकृतियों का निराकरण करना जागृत विवेक का ही काम है, पर इसमें सर्वाङ्ग सावधानी अनिवार्य है।

हमारी प्रसन्नता का कारण यह है कि तुमने स्वविवेक से मंत्रों में सुधार तो किया, पर विनय और मर्यादा को भंग नहीं किया। मंत्रों के सुधारने के पहले बहुत कुछ सोचा, पर मेरे प्रभाव से आतंकित न हुये और सुधार सत्य सिद्ध हो जाने पर भी अहंकार में नहीं चढे। **सदाचारी, सन्तुलित-विवेक और विनयशील मर्यादाओं से समृद्ध ऐसे शिष्यों की ही कामना मुझे थी।**

अब मैं तुम्हें गुरुपरम्परा से प्राप्त सम्पूर्ण श्रुत ही नहीं, आचार्यपद भी यथासमय समर्पित कर निश्चिन्त हो जाने के लिए कृतसंकल्प हूँ।'' ●

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे...)

इसके बाद टीकाकार मुनिराज उक्त भाव का पोषक एक छन्द लिखते हैं, जिसमें गाथा की मूल बात को पूरी तरह दुहरा दिया है।

उक्त छन्द मूलत: इसप्रकार है -

(शिखरिणी)

विकल्पो जीवानां भवति बहुधा संसृतिकर:
तथा कर्मानेकविधमपि सदा जन्मजनकम्।
असौ लब्धिर्नाना विमलजिनमार्गे हि विदिता
तत: कर्तव्यं नो स्वपरसमयैर्वादवचनम्।।२६७।।

(हरिगीत)

संसारकारक भेद जीवों के अनेक प्रकार हैं।
भव जन्मदाता कर्म भी जग में अनेक प्रकार हैं।।
लब्धियाँ भी हैं विविध इस विमल जिनमारगविषें।
स्वपरमत के साथ में न विवाद करना चाहिए।।२६७।।

जीवों के संसार के कारणभूत अनेक प्रकार के भेद हैं, जन्मोत्पादक कर्म भी अनेक प्रकार के हैं और निर्मल जैनमार्ग में लब्धियाँ भी अनेक प्रकार की प्रसिद्ध हैं। इसलिए स्वसमय और परसमय के साथ विवाद करना कर्त्तव्य नहीं है।

विकल्प शब्द का अर्थ भेद भी होता है; इसकारण गाथा के अनुसार यहाँ विकल्प का अर्थ भेद मानकर ही अर्थ किया गया है। तथापि मन में उठनेवाले अनेक प्रकार के भावों को भी विकल्प कहते हैं।

यदि इसके अनुसार अर्थ किया जाये तो ऐसा भी कर सकते हैं कि जीवों के संसार-वर्धक अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं, मान्यताएँ होती हैं। इसीप्रकार कर्म का अर्थ कार्य भी होता है। तात्पर्य यह है कि लोगों के कार्य भी अनेक प्रकार के हैं। पर्यायगत योग्यता को लब्धि कहते हैं। 'लब्धियाँ अनेक प्रकार की हैं' - का अर्थ यह भी हो सकता है कि जीवों की पर्यायगत योग्यतायें भी अनेक प्रकार की हैं, विभिन्न प्रकार की हैं।

इसप्रकार इस छन्द का एक सहज अर्थ यह भी किया जा सकता है कि जीवों के मन में अनेक प्रकार की विकल्प तरंगे उठती हैं, उनके अनेक प्रकार के कार्य देखे जाते हैं और उनकी पर्यायगत योग्यताएँ भी अलग-अलग होती हैं। इसकारण सब का एकमत हो पाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। अत: आत्मार्थियों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे उक्त संदर्भ में किसी से भी वाद-विवाद में न उलझें।

ध्यान रहे, समझना-समझाना अलग बात है और वाद-विवाद करना अलग। समझने-समझाने का भाव ज्ञानीजनों को भी आ सकता है, आता भी है, वे समझाते भी हैं; पर वे किसी से वाद-विवाद में नहीं उलझते।

वाद-विवाद में जीत-हार की भावना रहती है; जबकि समझने में जिज्ञासा और समझाने में करुणाभाव रहता है। यही कारण है कि साधर्मी भाई-बहिनों में तत्त्वचर्चा तो होती है, पर वाद-विवाद नहीं।

यहाँ वाद-विवाद का निषेध है; चर्चा-वार्ता का नहीं, शंका-समाधान का नहीं, पठन-पाठन का भी नहीं; क्योंकि ये तो स्वाध्याय तप के भेद हैं।।२६७।।

नियमसार गाथा १५७

विगत गाथा में किसी के भी साथ वाद-विवाद करने का निषेध किया गया है और अब इस गाथा में उदाहरण के माध्यम से यह कहते हैं कि यदि तुझे निधि मिल गई है तो उसे तू गुप्त रहकर क्यों नहीं भोगता ?

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं।।१५७।।

(हरिगीत)

ज्यों निधी पाकर निजवतन में गुप्त रह जन भोगते।
त्यों ज्ञानिजन भी ज्ञाननिधि परसंग तज के भोगते।।१५७।।

जैसे कोई एक दरिद्र मनुष्य निधि (खजाना) को पाकर अपने वतन में गुप्त रहकर उसके फल को भोगता है; उसीप्रकार ज्ञानीजन भी परजनों की संगति को छोड़कर ज्ञाननिधि को भोगते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यहाँ दृष्टान्त द्वारा सहज तत्त्व की आराधना की विधि बताई गई है। कोई एक दरिद्र मनुष्य क्वचित् कदाचित् पुण्योदय से निधि को पाकर, उस निधि के फल को जन्मभूमिरूप गुप्तस्थान में रहकर अति गुप्तरूप से भोगता है – यह दृष्टान्त का पक्ष है।

दार्ष्टान्त पक्ष से भी सहज परमतत्त्वज्ञानी जीव क्वचित् आसन्न भव्यतारूप गुण का उदय होने से सहज वैराग्य सम्पत्ति होने पर, परमगुरु के चरणकमल युगल की निरतिशय भक्ति द्वारा मुक्ति सुन्दरी के मुख के पराग के समान सहज ज्ञाननिधि को पाकर स्वरूपप्राप्ति रहित जनों के समूह को ध्यान में विघ्न का कारण जानकर उन्हें छोड़ता है।''

इस गाथा और उसकी टीका का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जैसे किसी गरीब आदमी को पूर्वपुण्योदय से जमीन बोते हुये अरब रुपयों की सम्पत्ति मिले तो वह उसे एकान्त में जाकर भोगता है, उसके बारे में किसी को नहीं बताता; क्योंकि दूसरे को बताने से उसे भी कुछ देना पड़ सकता है। उसीप्रकार ज्ञानीजीव भी परजनों से दूर रहकर अपनी ज्ञाननिधि को भोगता है। ज्ञाननिधि तो ऐसी है कि उसमें लीन हो जावें तो केवलज्ञान प्रगट हो जाये।[१]

गुरु कहते हैं कि यह वस्तुस्वरूप समझकर तू अपने में समा जा, दूसरों को समझाने का विकल्प छोड़ दे; क्योंकि अज्ञानी जीव बहुत स्वच्छन्दी हैं, उन्हें समझाने से तुम्हारे ध्यान में विघ्न उत्पन्न होगा।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १२९१

वास्तव में भगवान के कथन को अज्ञानी जीव नहीं समझ सकते, परन्तु भाग्यवंत पुरुषार्थवंत एवं निकट मोक्षगामी जीव को यह बात सहज समझ में आती है।[१]''

यह एक सीधी सहज सरल गाथा है, इसमें इतना ही कहा गया है कि जिसप्रकार लोक में यदि किसी को कोई गुप्त खजाना मिल जावे तो वह उसे अत्यन्त गुप्त रहकर भोगता है; किसी को भी नहीं बताता। उसीप्रकार ज्ञानीजन भी रत्नत्रयरूप निधि पाकर उसे गुप्त रहकर भोगते हैं, उसका प्रदर्शन नहीं करते।

मूल गाथा में तो परसंग छोड़कर ज्ञाननिधि को भोगने की बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कही है; पर न जाने क्यों टीकाकार परसंग को छोड़ने की बात कहकर ही बात समाप्त कर देते हैं; ज्ञाननिधि को भोगने की बात ही नहीं करते।

'हम आत्मज्ञानी हैं' – इस बात का ढिढ़ोरा पीटनेवालों को इस प्रकरण पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि यदि हमें आत्मानुभूतिरूप निधि की प्राप्ति हो गई है तो उसे गुप्त रहकर क्यों नहीं भोगते, उसका ढ़िढोरा क्यों पीटते हैं ?।।१५७।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं; उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है –

(शालिनी)

अस्मिन् लोके लौकिक: कश्चिदेक:
लब्ध्वा पुण्यात्कांचनानां समूहम्।
गूढो भूत्वा वर्तते त्यक्तसंगो
ज्ञानी तद्वत् ज्ञानरक्षां करोति।।२६८।।

(हरिगीत)

पुण्योदयों से प्राप्त कांचन आदि वैभव लोक में।
गुप्त रहकर भोगते जन जिस तरह इस लोक में।।
उस तरह सद्ज्ञान की रक्षा करें धर्मातमा।
सब संग त्यागी ज्ञानीजन सद्ज्ञान के आलोक में।।२६८।।

इस लोक में कोई एक लौकिकजन पुण्योदय से प्राप्त स्वर्णादि धन के समूह को गुप्त रहकर वर्तता है, भोगता है; उसीप्रकार परिग्रह रहित ज्ञानी भी अपनी ज्ञाननिधि की रक्षा करता है।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३०१

''जिसप्रकार किसी व्यक्ति को पुण्योदय से धन मिला, तो उसे वह स्वदेश में जाकर, गुप्त स्थान में रहकर भोगता है; उसीप्रकार ज्ञानी जीव भी स्वयं की चिदानन्द निधि को पाकर उसकी रक्षा करता है। देह, मन, वाणी, धन आदि बाह्य पदार्थ निजनिधि नहीं हैं तथा आत्मा में उत्पन्न होनेवाले शुभाशुभरूप विकारीभाव भी आत्मनिधि नहीं हैं, बल्कि वे तो विकार हैं। वास्तव में ज्ञान का आनन्दरूप स्वभाव ही निजनिधि है।

इसप्रकार निजज्ञाननिधि के श्रद्धान-ज्ञान द्वारा उसकी रक्षा करना ही वास्तविक धर्म है। जीव शरीरादि बाह्य पदार्थों की रक्षा नहीं कर सकता; क्योंकि वह जड़ पदार्थों में बिगाड़-सुधार नहीं कर सकता। तथा इन शुभाशुभ भावों का अपने आपको स्वामी मानना भी अज्ञानभाव है; क्योंकि ये विकारीभाव हैं, स्वभावभाव नहीं हैं। साधकदशा में शुभाशुभ राग आता अवश्य है, परन्तु वह विकार है, उपाधि है; आत्मा के कल्याण के लिए व्यर्थ है। इसलिए पुण्य-पाप से रहित निजज्ञान स्वभाव का श्रद्धान-ज्ञान करके उसमें लीन होना ही ज्ञान की रक्षा है और वही निश्चयधर्म है। - ऐसा जानकर धर्मीजीव निजज्ञाननिधि को गुप्त रहकर भोगता है, पर के साथ वाद-विवाद नहीं करता।[१]''

यद्यपि उक्त छन्द में एक प्रकार से गाथा की बात को ही दुहरा दिया गया है; तथापि गाथा और छन्द की बात में कुछ अन्तर भी है।

गाथा में निजनिधि को भोगने की बात है, पर छन्द में निजनिधि की रक्षा करने की बात कही गई है और टीका में मात्र परसंग छोड़ने की ही बात आती है।

गाथा, टीका और कलश (छन्द) - तीनों में जो बात मूलत: कही गई है; उसका भाव मात्र इतना ही है कि सम्यक्त्व या आत्मानुभूति दर्शन की चीज है, प्रदर्शन की नहीं। तात्पर्य यह है कि यदि तुम्हें आत्मानुभूति हो गई है, अतीन्द्रिय-आनन्द की प्राप्ति हो गई है तो फिर शान्ति से एकान्त में उसे क्यों नहीं भोगते, उसका प्रदर्शन क्यों करते हो?।।२६८।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

त्यक्त्वा संगं जननमरणांतकहेतुं समस्तं
कृत्वा बुद्ध्या हृदयकमले पूर्णवैराग्यभावम्।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३०२-१३०३

स्थित्वा शक्त्या सहजपरमानंदनिर्व्यग्ररूपे
क्षीणे मोहे तृणमिव सदा लोकमालोकयाम: ।।२६९।।

(वीर छन्द)

जनम-मरण का हेतु परिग्रह अरे पूर्णत: उसको छोड़।
हृदय कमल में बुद्धिपूर्वक जगविराग में मन को जोड़।।
परमानन्द निराकुल निज में पुरुषारथ से थिर होकर।
मोह क्षीण होने पर तृणसम हम देखें इस जग की ओर।।२६९।।

जन्म-मरणरूपी रोग के कारणभूत समस्त परिग्रह को छोड़कर, हृदय कमल में बुद्धिपूर्वक पूर्ण वैराग्य भाव धारण करके, सहज परमानन्द से अव्यग्र अनाकुल निजरूप में पुरुषार्थपूर्वक स्थित होकर, मोह के क्षीण होने पर हम इस लोक को सदा तृण समान देखते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''यहाँ मुख्यरूप से मुनिराज की बात है। मुनिराज को लक्ष्य करके कहा जा रहा है कि हे मुनिराज! तुम्हारे चैतन्यस्वभाव में, अनाकुल शान्ति में रहनेवाली जो आवश्यक क्रिया है, वही तुम्हारा स्वरूप है।

पुण्य-पाप के भाव तुम्हारे स्वरूप नहीं हैं; क्योंकि वे यदि स्वभाव होते तो उन्हें कायम रहना चाहिए; परन्तु अशुद्धता सिद्धों में से निकल जाती हैं; अतः वह तुम्हारा स्वरूप नहीं है। ज्ञानस्वभाव ही तुम्हारा स्वरूप है, उसमें एकाग्र होना ही मुक्ति का मार्ग है तथा जो तुम्हें २८ मूलगुण पालन करने का शुभ विकल्प आता है, वह पुण्यास्रव और आकुलता है। वह तुम्हारी आत्मलीनता में कारण नहीं है।

अतः स्वरूप में ऐसे लीन हो जाओ कि मोह का नाश हो जाय।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव महासमर्थ मुनि थे। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते थे। वे कहते हैं कि हम अपने ज्ञानस्वभाव में स्थित रहकर मोह क्षीण होने पर लोक को सदा तृणवत् देखते हैं।

देखो; यह मुनिदशा! मुनिराज के लिए इन्द्रों का इन्द्रासन, सर्वार्थसिद्धि देव की पर्याय, समवशरणादि तृण समान हैं। वे पदार्थ हमारे स्वभाव में नहीं हैं, वे तो ज्ञाता के ज्ञेय हैं।

जिसप्रकार जगत में तृण ज्ञान का ज्ञेय मात्र होता है, उसका अन्य कोई मूल्य नहीं है; उसीप्रकार समस्त जगत घास के ढेर के समान हमारे ज्ञान में ज्ञात होता है; परन्तु

हमारे लिए उसका कोई मूल्य नहीं है।

हमारे ज्ञानस्वभाव में तो भगवान भी ज्ञेयरूप से प्रतिभासित होते हैं तथा उनके प्रति होनेवाला शुभराग का भी हमारे लिये तो कोई मूल्य नहीं है, वह हमारे किसी काम का नहीं है।

हमको तो हमारी महिमा आती है। हमारे भगवान तो हम स्वयं ही हैं। हमारा आत्मा सर्वज्ञ हो सकता है - ऐसी प्रतीति हमें निरन्तर वर्तती है। हमारे माहात्म्य के सामने जगत की कोई चीज अथवा शुभराग का माहात्म्य नहीं है। इसप्रकार शुद्धचैतन्यस्वभाव की महिमा उत्पन्न करना तथा राग और पुण्य की महिमा छोड़ना ही आवश्यक क्रिया है तथा वही मुक्ति का मार्ग है, धार्मिक क्रिया है।[१]''

ध्यान देने की बात यह है कि टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इस छन्द में उत्तम पुरुष में अत्यन्त स्पष्टरूप से लिख रहे हैं कि हम सम्पूर्ण लोक को तृणवत देखते हैं। यद्यपि यह बात भी सत्य हो सकती है, होगी ही; तथापि छन्द का मूल भाव यही है कि जिसका मोह क्षीण हो गया है; उन वीतरागी भावलिंगी मुनिराजों की दृष्टि में यह सम्पूर्ण जगत तृणवत् तुच्छ है। उन्हें इस जगत से कोई अपेक्षा नहीं है।

जबतक किसी व्यक्ति को यह सम्पूर्ण जगत, उसका वैभव, घास के तिनके के समान तुच्छ भासित न हो 'उसमें रंचमात्र भी सुख नहीं है' - यह बात अन्तर की गहराई से न उठे; तबतक वह जगत के इस वैभव को ठुकरा कर, सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति का त्याग कर नग्न दिगम्बर मुनिदशा कैसे स्वीकार कर सकता है ?

यदि कोई व्यक्ति लौकिक सुख की कामना से, यश के लोभ से या अज्ञान से नग्न दिगम्बर दशा धारण करता है तो ऐसे व्यक्ति को अष्टपाहुड में नटश्रमण कहा है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार नट विभिन्न वेष धारण करता है; उसीप्रकार इसने भी नग्न दिगम्बर दशा धारण की है; अत: यह सच्चा दिगम्बर मुनि नहीं है।।२६९।।

नियमसार गाथा १५८

यह निश्चय परमावश्यक अधिकार के उपसंहार की गाथा है। इसमें कहा गया है कि आजतक जो भी महापुरुष केवली हुए हैं; वे सभी उक्त निश्चय आवश्यक को प्राप्त करके ही हुए हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है -

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३०८-१३०९

सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं च काऊण।
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा।।१५८।।

(हरिगीत)

यों सभी पौराणिक पुरुष आवश्यकों को धारकर।
अप्रमत्तादिक गुणस्थानक पार कर केवलि हुए।।१५८।।

सभी पौराणिक महापुरुष इसप्रकार के आवश्यक करके, अप्रमत्तादि गुणस्थानों को प्राप्त करके केवली हुए हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''यह परमावश्यक अधिकार के उपसंहार का कथन है।

स्वयंबुद्ध तीर्थंकर परमदेवादि एवं बोधित बुद्ध अप्रमत्तादि गुणस्थानों से लेकर सयोग केवली पर्यन्त गुणस्थानों की पंक्ति में आरूढ़ सभी पुराण पुरुष साक्षात् मुक्तिरूपी स्त्री के अशरीरी सुख के कारण को जानकर बाह्य व्यवहार आवश्यकादि क्रिया से प्रतिपक्ष (विरुद्ध) अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानस्वरूप शुद्ध निश्चय परमावश्यकरूप आत्माराधना के प्रसाद से सकल प्रत्यक्ष ज्ञानधारी केवली हुए हैं।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन से जो निर्मलता प्रगट होती है, उस निर्मलता से सभी जीव मोक्षदशा प्राप्त करते हैं। सभी पुराणपुरुष अर्थात् सभी अतीतकालीन महापुरुषों ने इसी विधि से मोक्ष प्राप्त किया है, नये-पुराने लोगों के लिये अलग अलग विधि नहीं है; बल्कि भूतकालीन पुरुषों ने इस ही विधि से मोक्ष प्राप्त किया तथा भविष्य में होनेवाले सभी महापुरुष भी इसीप्रकार मोक्ष प्राप्त करेंगे। उन पुरुषों में तीर्थंकर तो स्वयंबुद्ध हुये। स्वयंबुद्ध का अर्थ यह है कि जिन्होंने पूर्व पर्याय में तो देशनालब्धि प्राप्त की थी; परन्तु वर्तमान पर्याय में गुरु का निमित्त नहीं था। पहले सच्चे गुरु से धर्म की बात सुनी थी; परन्तु वहाँ धर्म नहीं प्राप्त किया तथा अगली पर्याय में गुरु के निमित्त बिना ही पहले के संस्कार याद करके सम्यग्दर्शनरूप धर्म प्राप्त किया।

इसप्रकार धर्म प्राप्त करने को निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं तथा गुरु की उपस्थिति में धर्म प्राप्त करने को अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।[१]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३१३

यहाँ पुराण पुरुषों के तीन प्रकार बताए गए हैं १. स्वयंबुद्ध तीर्थंकर २. स्वयंबुद्ध क्षायिक सम्यग्दृष्टि ३. जिन्होंने गुरु के समझाने से मोक्ष प्राप्त किया। - ऐसे तीन प्रकार के पुराण पुरुष सातवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त गुणस्थानों की पंक्ति में आरूढ़ होकर, परम आवश्यक रूप आत्मा की आराधना के प्रसाद से केवली - सकल प्रत्यक्षज्ञानधारी हुए हैं। यहाँ मुनिराज की मुख्यता से कथन है; अतः सातवें गुणस्थान से बात की है। तथा चौथा-पाँचवाँ गुणस्थान भी आत्मा के अवलंबन से ही प्रगट होता है।

सम्यग्दर्शन, श्रावकपना, मुनिपना, श्रेणी चढ़ने, वीतरागता प्रगट होने और केवलज्ञान प्रगट करने का कारण शुद्ध द्रव्य ही है तथा शुद्ध द्रव्य के अवलंबन से प्रगट होनेवाली निर्विकारी क्रिया, निश्चय आवश्यक क्रिया है। किसी भी प्रकार का राग, निमित्त, संहनन इत्यादि केवलज्ञान का कारण नहीं है। मुनिराज पुण्य-पाप के वश न होकर तथा स्व के वश होकर, निर्मल क्रिया के द्वारा विकल्पों का अभाव करके सातवाँ गुणस्थान प्राप्त करते हैं तथा निज द्रव्य के ही अवलम्बन से श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि मुक्ति प्राप्त करने का एक ही उपाय है।

आजतक भूतकाल में जितने भी पौराणिक महापुरुषों ने मुक्ति प्राप्त की है, वर्तमान में विदेहादि क्षेत्र से जो निकट भव्य जीव मुक्ति प्राप्त कर रहे हैं और भविष्य में भी जो जीव मुक्ति प्राप्त करेंगे; वे सभी निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप परमावश्यक प्राप्त करके मुक्ति की प्राप्ति करेंगे। कहा भी है कि 'एक होय त्रयकाल में परमारथ को पंथ'।।१५८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज दो छन्द लिखते हैं, जिसमें से पहला छन्द इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वात्माराधनया पुराणपुरुषाः सर्वे पुरा योगिनः
प्रध्वस्ताखिलकर्मराक्षसगणा ये विष्णवो जिष्णवः।
तान्नित्यं प्रणमत्यनन्यमनसा मुक्तिस्पृहो निस्पृहः
स स्यात् सर्वजनार्चितांघ्रिकमलः पापाटवीपावकः।।२७०।।

१. वही, पृष्ठ १३१४-१३१५

(ताटंक या वीर)

अरे पुराण पुरुष योगीजन निज आतम आराधन से।
सभी करमरूपी राक्षस के पूरी तरह विराधन से।।
विष्णु-जिष्णु हुए उन्हीं को जो मुमुक्षु पूरे मन से।
नित्य नमन करते वे मुनिजन अघ अटवी को पावक हैं।।२७०।।

पुरातन काल में हुए सभी पुराणपुरुष योगीजन, निज आत्मा की आराधना से, समस्त कर्मरूपी राक्षसों के समुदाय का नाश करके, विष्णु अर्थात् व्यापक सर्वव्यापी ज्ञानवाले और जिष्णु अर्थात् जीतनेवाले जयवन्त हुए हैं; उनको मुक्ति की स्पृहावाला जगत से निष्प्रह जो जीव अनन्य मन से नित्य नमन करता है; वह जीव पापरूपी अटवी को जलाने में अग्नि समान है और उसके चरण कमलों की पूजा सर्वजन करते हैं।

इस छन्द में यह कहा गया है कि भूतकाल में जिन पुराणपुरुषों ने अपने भगवान आत्मा की आराधना करके कर्मों का नाश किया है, अनंतज्ञान और अनंतसुख प्राप्त किया है; वे सभी सम्पूर्ण लोक को जानने के कारण सर्वव्यापी विष्णु और कर्मों को जीतने के कारण जिष्णु अर्थात् जयवंत हुए हैं; उन्हें मुमुक्षु जीव नित्य नमन करते हैं। ऐसे जीव पापरूपी भयंकर जंगल को जलानेवाले हैं, पापभावों से रहित हैं।।२७०।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपं
नित्यानन्दं निरुपमगुणालंकृतं दिव्यबोधम्।
चेतः शीघ्रं प्रविश परमात्मानमव्यग्ररूपं
लब्ध्वा धर्मं परमगुरुतः शर्मणे निर्मलाय।।२७१।।

(ताटंक या वीर)

कनक-कामिनी गोचर एवं हेयरूप यह मोह छली।
इसे छोड़कर निर्मल सुख के लिए परम पावन गुरु से।।
धर्म प्राप्त करके हे आत्मन् निरुपम निर्मल गुणधारी।
दिव्यज्ञान वाले आतम में तू प्रवेश कर सत्वर ही।।२७१।।

हे चित्त ! तू हेयरूप कनक-कामिनी संबंधी मोह को छोड़कर, निर्मल सुख के लिए परमगुरु द्वारा धर्म को प्राप्त करके अव्यग्ररूप निरुपम गुणों से अलंकृत नित्य आनन्द और दिव्यज्ञानवाले, परमात्मा (अपने आत्मा) में शीघ्र प्रवेश कर।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''गुरु शिष्य से कहते हैं कि तुम शान्तस्वरूपी, नित्य आनन्दमय, निरुपम गुणों से युक्त और दिव्यज्ञानवाले परमात्मा में शीघ्र प्रवेश करो। यहीं टीकाकार मुनिराज स्वयं स्वयं को संबोधित करते हैं। वास्तव में स्वयं का आत्मा ही परम आत्मा है; वही शान्तस्वरूपी है। शरीरादि अजीव हैं, पर हैं, पुण्य-पाप के भाव आकुलतास्वरूप हैं। संवर-निर्जरा और मोक्ष एक समय की पर्याय हैं, वे परम आत्मा नहीं हैं। पुण्य-पाप से रहित तथा एक समय की पर्याय से भी रहित त्रिकाली ध्रुव आत्मा परमात्मा कहलाता है। यह अपना आत्मा नित्य आनन्दवाला है, सत्, चित् और आनन्द की मूर्ति है, शांत स्वभाववाला है, सदा एकरूपस्वभाववाला है - ऐसे आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन और वीतरागता प्रगट होती है।[१]

यहाँ टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि अनन्त जीवों ने शुद्ध आत्मा के आश्रय से ही केवलज्ञान प्राप्त किया है; अतः तू भी वैसा ही कर। निज आत्मा में शीघ्र प्रवेश कर।[२]''

निश्चय परम आवश्यक अधिकार के उपसंहार के इस छन्द में टीकाकार मुनिराज स्वयं अपने चित्त (मन) से यह कह रहे हैं कि हे चित्त ! तू हेयरूप स्त्री-पुत्रादि एवं धन-धान्यादि, सुवर्णादि परिग्रह के मोह को छोड़कर, आत्मिक सुख के लिए परम गुरु अरहंतदेव से प्राप्त धर्म को प्राप्त करके सर्व प्रकार की आकुलता से रहित अव्यग्र, अनुपम गुणों से अलंकृत, नित्यानन्द और दिव्य ज्ञानवाले अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा में प्रवेश कर, अपने आत्मा का ध्यान कर, उसमें ही रम जा, जम जा; यहाँ-वहाँ क्यों भटकता है ? अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति तो अपने आत्मा के ज्ञान-ध्यान से ही होनेवाली है; किसी अन्य के आत्मा से नहीं।

अत: हे मुनिवरो ! तुम एकमात्र अपने आत्मा का ध्यान करो, उसमें ही जमे रहो, रमे रहो, उसमें समा जावो। अनन्त सुख प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है।।२७१।।

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि **इसप्रकार सुकविजन रूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निश्चय परमावश्यकाधिकार नामक ग्यारहवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।** **(क्रमशः)**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३३० २. वही, पृष्ठ १३३१